विकासका मुख्य साधन

विकास दो प्रकारका है, शारीरिक और मानसिक। शारीरिक विकास केवल मनुष्योंमें ही नहीं पशु-पक्षियों तकमें देखा जाता है। खान-पान-स्थान आदिके पूरे सुभीते मिलें और चिन्ता, भय न रहे, तो पशु पक्षी भी खूब बलवान्, पुष्ट और गठीले हो जाते हैं। मनुष्यों और पशु-पक्षियोंके शारीरिक विकासका एक अन्तर ध्यान देने योग्य है, कि मनुष्यका शारीरिक विकास केवल खान-पान और रहन-सहन आदिके पूरे सुभीते और निश्चिन्ततासे ही सिद्ध नहीं हो सकता जब कि पशु-पक्षियोंका हो जाता है। मनुष्यके शारीरिक विकासके पीछे जब पूरा और समुचित मनोव्यापार-बुद्धियोग हो, तभी वह पूरा और समुचित रूपसे सिद्ध हो सकता है, और किसी तरह नहीं। इस तरह उसके शारीरिक-विकासका असाधारण और प्रधान साधन बुद्धियोग-मनोव्यापार-संयत प्रवृत्ति है।

मानसिक-विकास तो जहाँ तक उसका पूर्णरूप संभव है मनुष्यमात्रमें है। उसमें शरीर-योग-देह-व्यापार अवश्य निमित्त है, देह-योगके बिना वह संभव ही नहीं, फिर भी कितना ही देह-योग क्यों न हो, कितनी ही शारीरिक पुष्टि क्यों न हो, कितना ही शरीर-बल क्यों न हो, यदि मनोयोग-बुद्धि-व्यापार या समुचित रीतिसे समुचित दिशामें मनकी गति-विधि न हो, तो पूरा मानसिक विकास कभी सम्भव नहीं।

अर्थात् मनुष्यका पूर्ण और समुचित शारीरिक और मानसिक विकास केवल व्यवस्थित और जागरित बुद्धि-योगकी अपेक्षा रखता है।

हम अपने देशमें देखते हैं कि जो लोग खान-पानसे और आर्थिक दृष्टिसे ज्यादा निश्चिन्त हैं, जिन्हें विरासतमें पैतृक सम्पत्ति जमींदारी या राजसत्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त है, वे ही अधिकतर मानसिक विकासमें मंद होते हैं। खास-खास धनवानोंकी सन्तानों, राजपुत्रों और जमींदारोंको देखिए। बाहरी चमक-दमक और दिखावटी फुर्ती होनेपर भी उनमें मनका, विचारशक्तिका, प्रतिभाका कम ही विकास होता है। बाह्य साधनोंकी उन्हें कमी नहीं, पढ़ने लिखनेके साधन भी पूरे प्राप्त हैं, शिक्षक-अध्यापक भी यथेष्ट मिलते हैं, फिर भी उनका मानसिक विकास एक तरहसे रुके हुए तालाबके पानीकी तरह गतिहीन होता है। दूसरी ओर जिसे विरासतमें न तो कोई स्थूल सम्पत्ति मिलती है और न कोई दूसरे मनोयोगके सुभीते सरलतासे मिलते हैं, उस वर्गमेंसे असाधारण मनोविकासवाले व्यक्ति पैदा होते हैं। इस अन्तरका कारण क्या है? होना तो यह चाहिए था कि जिन्हें साधन अधिक और अधिक सरलतासे प्राप्त हों वे ही अधिक और जल्दी विकास प्राप्त करें। पर देखा जाता है उल्टा। तब हमें खोजना चाहिए कि विकासकी असली जड़ क्या है? मुख्य उपाय क्या है कि जिसके न होनेसे और सब न होनेके बराबर हो जाता है।

जवाब बिलकुल सरल है और उसे प्रत्येक विचारक व्यक्ति अपने और अपने आस-पासवालोंके जीवनमेंसे पा सकता है। वह देखेगा कि जवाबदेही या उत्तरदयित्व ही विकासका प्रधान बीज है। हमें मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे देखना चाहिए कि जवाबदेहीमें ऐसी क्या शक्ति है जिससे वह अन्य सब विकासके साधनोंकी अपेक्षा प्रधान साधन बन जाती है। मनका विकास उसके सत्व-अंशकी योग्य और पूर्ण जागृतिपर ही निर्भर है। जब राजस तामस अंश सत्वगुणसे प्रबल हो जाता है तब मनकी योग्य विचारशक्ति या शुद्ध विचारशक्ति आवृत या कुंठित हो जाती है। मनके राजस तथा तामस अंश बलवान् होनेको व्यवहारमें प्रमाद कहते हैं। कौन नहीं जानता कि प्रमादसे वैयक्तिक और सामष्टिक सारी खराबियाँ होती हैं। जब जवाबदेही नहीं रहती तब मनकी गति कुंठित हो जाती है और प्रमादका तत्त्व बढ़ने लगता है जिसे योग-शास्त्रमें मनकी क्षिप्त और मूढ़ अवस्था कहा है। जैसे शरीर-पर शक्तिसे अधिक बोझ लादने-पर उसकी स्फूर्ति, उसका स्नायुबल, कार्यसाधक नहीं रहता वैसे ही रजोगुण-जनित क्षिप्त अवस्था और तमोगुणजनित मूढ़ अवस्थाका बोझ पड़नेसे मनकी स्वाभाविक सत्वगुणजनित विचार-शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। इस तरह मनकी निष्क्रियताका मुख्य कारण राजस और तामस गुणका उद्रेक है। जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हम किसी जवाबदेहीको नहीं लेते या लेकर नहीं निबाहते, तब मनके सात्त्विक अंशकी जागृति होनेके बदले तामस और राजस अंशकी प्रबलता होने लगती है। मनका सूक्ष्म सच्चा विकास रुककर केवल स्थूल विकास रह जाता है और वह भी सत्य दिशाकी ओर नहीं होता। इसीसे बेजवाबदारी मनुष्य-जातिके लिए सबसे अधिक खतरेकी वस्तु है। वह मनुष्यको मनुष्यत्वके यथार्थ मार्गसे गिरा देती है। इसीसे जवाबदेहीकी विकासके प्रति असाधारण प्रधानताका भी पता चल जाता है।

जवाबदेही अनेक प्रकारकी होती है—कभी कभी वह मोहमेंसे आती है। किसी युवक या युवतीको लीजिए। जिस व्यक्तिपर उसका मोह होगा उसके प्रति वह अपनेको जवाबदेह समझेगा, उसीके प्रति कर्तव्य-पालनकी चेष्टा करेगा, दूसरोंके प्रति वह उपेक्षा भी कर सकता है। कभी कभी जवाबदेही स्नेह या प्रेममेंसे आती है। माता अपने बच्चेके प्रति उसी स्नेहके वश कर्तव्य पालन करती है पर दूसरोंके बच्चोंके प्रति अपना कर्तव्य भूल जाती है। कभी जवाबदेही भयमेंसे आती है। अगर किसीको भय हो कि इस जंगलमें रातको या दिनको शेर आता है, तो वह जागरिक रहकर अनेक प्रकारसे बचाव करेगा, पर भय न रहनेसे फिर बेफिक्र होकर अपने और दूसरोंके प्रति कर्तव्य भूल जायगा। इस तरह लोभ-वृत्ति, परिग्रहाकांक्षा, क्रोधकी भावना, बदला चुकानेकी वृत्ति, मान-मत्सर आदि अनेक राजस-तामस अंशोंसे जवाबदेही थोड़ी या बहुत, एक या दूसरे रूपमें, पैदा होकर मानुषिक जीवनका सामाजिक और आर्थिक चक्र चलता रहता है। पर ध्यान रखना चाहिए कि इस जगह विकासके, विशिष्ट विकासके या पूर्ण विकासके असाधारण और प्रधान साधन रूपसे जिस जवाबदेहीकी ओर संकेत किया गया है वह उन सब मर्यादित और संकुचित जवाबदेहियोंसे भिन्न तथा परे है। वह किसी क्षणिक संकुचित भावके ऊपर अवलम्बित नहीं है, वह सबके प्रति, सदाके लिए, सब स्थलोंमें एक-सी होती है चाहे वह निजके प्रति हो, चाहे कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और मानुषिक व्यवहार मात्रमें काम लाई जाती हो। वह एक ऐसे भावमेंसे पैदा होती है जो न तो क्षणिक है, न संकुचित और न मलिन। वह भाव अपनी जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव करनेका है। जब इस भावमेंसे जवाबदेही प्रकट होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है तब वह कभी रुकती नहीं। सोते जागते सतत वेगवती नदीके प्रवाहकी तरह अपने पथपर काम करती रहती है। तब क्षिप्त या मूढ़ भाग मनमें फटकने ही नहीं पाता। तब मनमें निष्क्रियता या कुटिलताका संचार सम्भव ही नहीं। जवाबदेहीकी यही संजीवनी शक्ति है, जिसकी बदौलत वह अन्य सब साधनोंपर आधिपत्य करती है और पामरसे पामर, गरीबसे गरीब, दुर्बलसे दुर्बल और तुच्छसे तुच्छ समझे जानेवाले कुल या परिवारमें पैदा हुए व्यक्तिको सन्त, महन्त, महात्मा, अवतार तक बना देती है।

गरज यह कि मानुषिक विकासका आधार एकमात्र जवाबदेही है और वह किसी एक भावसे संचालित नहीं होती। अस्थिर संकुचित या क्षुद्र भावोंमेंसे भी जवाबदेही प्रवृत्त होती है। मोह, स्नेह, भय, लोभ आदि भाव पहले प्रकारके हैं और जीवन-शक्तिका यथार्थानुभव दूसरे प्रकारका भाव है।

अब हमें देखना होगा कि उक्त दो प्रकारके भावोंमें परस्पर क्या अन्तर है और पहले प्रकारके भावोंकी अपेक्षा दूसरे प्रकारके भावोंमें अगर श्रेष्ठता है तो वह किस सबबसे है ? अगर यह विचार स्पष्ट हो जाय तो फिर उक्त दोनों प्रकारके भावोंपर आश्रित रहनेवाली जवाबदेहियोंका भी अन्तर तथा श्रेष्ठता-कनिष्ठता ध्यानमें आ जायगी।

मोहमें रसानुभूति है, सुख-संवेदन भी है। पर वह इतना परिमित और इतना अस्थिर होता है कि उसके आदि, मध्य और अन्तमें ही नहीं उसके प्रत्येक अंशमें शंका, दुःख और चिन्ताका भाव भरा रहता है जिसके कारण घड़ीके लोलककी तरह वह मनुष्यके चित्तको अस्थिर बनाये रखता है। मान लीजिए कि कोई युवक अपने प्रेम-पात्रके प्रति स्थूल मोहवश बहुत ही दत्तचित्त रहता है, उसके प्रति कर्तव्य-पालनमें कोई त्रुटि नहीं करता, उससे उसे रसानुभव और सुख-संवेदन भी होता है। फिर भी बारीकीसे परीक्षण किया जाय, तो मालूम होगा कि वह स्थूल मोह अगर सौन्दर्य या भोग-लालसासे पैदा हुआ है, तो न जाने वह किस क्षण नष्ट हो जायगा, घट जायगा या अन्य रूपमें परिणत हो जायगा। जिस क्षण युवक या युवतीको पहले प्रेम-पात्रकी अपेक्षा दूसरा पात्र अधिक सुन्दर, अधिक समृद्ध, अधिक बलवान् या अधिक अनुकूल मिल जायगा, उसी क्षण उसका चित्त प्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पात्रकी ओरसे हटकर दूसरी ओर झुक पड़ेगा और इस झुकावके साथ ही प्रथम पात्रके प्रति कर्तव्य-पालनके चक्रकी, जो पहलेसे चल रहा था, गति और दिशा बदल जायगी। दूसरे पात्रके प्रति भी वह चक्र योग्य रूपसे न चल सकेगा और मोहका रसानुभव जो कर्तव्य-पालनसे सन्तुष्ट हो रहा था कर्तव्य-पालन करने या न करनेपर भी अतृप्त ही रहेगा। माता मोहवश अंगजात बालकके प्रति अपना सब कुछ न्यौछावर करके रसानुभव करती है, पर उसके पीछे अगर सिर्फ मोहका भाव है तो रसानुभव बिलकुल संकुचित और अस्थिर होता है। मान लीजिए कि वह बालक मर गया और उसके बदलेमें उसकी अपेक्षा भी अधिक सुन्दर और पुष्ट दूसरा बालक परवरिशके लिए मिल गया, जो बिलकुल मातृहीन है। परन्तु इस निराधार और सुन्दर बालकको पाकर भी वह माता उसके प्रति अपने कर्तव्य-पालनमें वह रसानुभव नहीं कर सकेगी जो अपने अंगजात बालकके प्रति करती थी। बालक पहलेसे भी अच्छा मिला है, माताको बालककी स्पृहा है और अर्पण करनेकी वृत्ति भी है। बालक भी मातृहीन होनेसे बालकापेक्षिणी माताकी प्रेम-वृत्तिका अधिकारी है। फिर भी उस माताका चित्त उसकी ओर मुक्त धारासे नहीं बहता। इसका सबब एक ही है और वह यह कि उस माताकी न्यौछावर या अर्पणवृत्तिका प्रेरक भाव केवल मोह था, जो स्नेह होकर भी शुद्ध और व्यापक न था, इस कारण उसके हृदयमें उस भावके होनेपर भी उसमेंसे कर्त्तव्य-पालनके फव्वारे नहीं छूटते, भीतर ही भीतर उसके हृदयको दबाकर सुखीके बजाय दुखी करते हैं, जैसे खाया हुआ पर हजम न हुआ सुन्दर अन्न। वह न तो खून बनकर शरीरको सुख पहुँचाता है और न बाहर निकलकर शरीरको हलका ही करता है। भीतर ही भीतर सड़कर शरीर और चित्तको अस्वस्थ बनाता है। यही स्थिति उस माताके कर्त्तव्य-पालनमें अपरिणत स्नेह भावकी होती है। हमने कभी भयवश रक्षणके वास्ते झोपड़ा बनाया, उसे सँभाला भी। दूसरोंसे बचनेके निमित्त अखाड़ेमें बल सम्पादित किया, कवायद और निशानेबाजीसे सैनिक शक्ति प्राप्त की, आक्रमणके समय (चाहे वह निजके ऊपर हो, कुटुम्ब, समाज या राष्ट्रके ऊपर हो) सैनिकके तौरपर कर्त्तव्य-पालन भी किया, पर अगर वह भय न रहा, खासकर अपने निजके ऊपर या हमने जिसे अपना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझा है उसके ऊपर, या जिसको हम अपना नहीं समझते, जिस राष्ट्रको हम निज राष्ट्र नहीं समझते उसपर हमारी अपेक्षा भी अधिक और प्रचंड भय आ पड़ा, तो हमारी भय-त्राण-शक्ति हमें कर्त्तव्य-पालनमें कभी प्रेरित नहीं करेगी, चाहे भयसे बचने बचानेकी हममें कितनी ही शक्ति क्यों न हो। वह शक्ति संकुचित भावोंमेंसे प्रकट हुई है तो जरूरत होनेपर भी वह काम न आवेगी और जहाँ जरूरत न होगी या कम जरूरत होगी वहाँ खर्च होगी। अभी अभी हमने देखा है कि यूरोपके और दूसरे राष्ट्रोंने भयसे बचने और बचानेकी निस्सीम शक्ति रखते हुए भी भयत्रस्त एबीसीनियाकी हजार प्रार्थना करनेपर भी कुछ भी मदद न की। इस तरह भयजनित कर्त्तव्य-पालन अधूरा होता है और बहुधा विपरीत भी होता है। मोह-कोटिमें गिने जानेवाले सभी भावोंकी एक ही जैसी अवस्था है, वे भाव बिलकुल अधूरे, अस्थिर और मलिन होते हैं।

जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव ही दूसरे प्रकारका भाव है जो न तो उदय होनेपर चलित या नष्ट होता है, न मर्यादित या संकुचित होता है और न मलिन होता है। प्रश्न होता है कि जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवमें ऐसा कौन-सा तत्त्व है जिससे वह सदा स्थिर व्यापक और शुद्ध ही बना रहता है? इसका उत्तर पानेके लिए हमें जीवन-शक्तिके स्वरूपपर थोड़ा-सा विचार करना होगा।

हम अपने आप सोचें और देखें कि जीवन-शक्ति क्या वस्तु है। कोई भी समझदार श्वासोच्छ्वास या प्राणको जीवनकी मूलाधार शक्ति नहीं मान सकता, क्योंकि कभी कभी ध्यानकी विशिष्ट अवस्थामें प्राण संचारके चालू न रहनेपर भी जीवन बना रहता है। इससे मानना पड़ता है कि प्राणसंचाररूप जीवनकी प्रेरक या आधारभूत शक्ति कोई और ही है। अभी तकके सभी आध्यात्मिक सूक्ष्म अनुभवियोंने उस आधारभूत शक्तिको चेतना कहा है। चेतना एक ऐसी स्थिर और प्रकाशमान शक्ति है जो दैहिक, मानसिक और ऐंद्रिक आदि सभी कार्योंपर ज्ञानका, परिज्ञानका प्रकाश अनवरत डालती रहती है। इन्द्रियाँ कुछ भी प्रवृत्ति क्यों न करें, मन कहीं भी गति क्यों न करे, देह किसी भी व्यापारका क्यों न आचरण करे, पर उस सबका सतत भान किसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक शक्तिको थोड़ा बहुत होता ही रहता है। हम प्रत्येक अवस्थामें अपनी दैहिक, ऐन्द्रिक और मानसिक क्रियासे जो थोड़े बहुत परिचित रहा करते हैं, सो किस कारणसे ? जिस कारणसे हमें अपनी क्रियाओंका संवेदन होता है वही चेतना शक्ति है और हम इससे अधिक या कम कुछ भी नहीं हैं। और कुछ हो या न हो, पर हम चेतनाशून्य कभी नहीं होते। चेतनाके साथ ही साथ एक दूसरी शक्ति और ओतप्रोत है जिसे हम संकल्प शक्ति कहते हैं। चेतना जो कुछ समझती सोचती है उसको क्रियाकारी बनानेका या उसे मूर्तरूप देनेका चेतनाके साथ अन्य कोई बल न होता तो उसकी सारी समझ बेकार होती और हम जहाँके तहाँ बने रहते। हम अनुभव करते हैं कि समझ, जानकारी या दर्शनके अनुसार यदि एक बार संकल्प हुआ तो चेतना पूर्णतया कार्याभिमुख हो जाती है। जैसे कूदनेवाला संकल्प करता है तो सारा बल संचित होकर उसे कुदा डालता है। संकल्प शक्तिका कार्य है बलको बिखरनेसे रोकना। संकल्पसे संचित बल संचित भाफ़के बल जैसा होता है। संकल्पकी मदद मिली कि चेतना गतिशील हुई और फिर अपना साध्य सिद्ध करके ही संतुष्ट हुई। इस गतिशीलताको चेतनाका वीर्य समझना चाहिए। इस तरह जीवन-शक्तिके प्रधान तीन अंश हैं—चेतना, संकल्प और वीर्य या बल। इस त्रिअंशी शक्तिको ही जीवन-शक्ति समझिए, जिसका अनुभव हमें प्रत्येक छोटे बड़े सर्जन-कार्यमें होता है। अगर समझ न हो, संकल्प न हो और पुरुषार्थ–वीर्यगति–न हो, तो कोई भी सर्जन नहीं हो सकता। ध्यानमें रहे कि जगतमें ऐसा कोई छोटा बड़ा जीवनधारी नहीं है जो किसी न किसी प्रकार सर्जन न करता हो। इससे प्राणीमात्रमें उक्त त्रिअंशी जीवन-शक्तिका पता चल जाता है। यों तो जैसे हम अपने आपमें प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वैसे ही अन्य प्राणियोंके सर्जन-कार्यसे भी उनमें मौजूद उस शक्तिका अनुमान कर सकते हैं। फिर भी उसका अनुभव, और सो भी यथार्थ अनुभव, एक अलग वस्तु है।

यदि कोई सामने खड़ी दीवालसे इन्कार करे, तो हम उसे मानेंगे नहीं। हम तो उसका अस्तित्व ही अनुभव करेंगे। इस तरह अपनेमें और दूसरोंमें मौजूद उस त्रिअंशी शक्तिके अस्तित्वका, उसके सामर्थ्यका, अनुभव करना जीवन-शक्तिका यथार्थ अनुभव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब ऐसा अनुभव प्रकट होता है तब अपने आपके प्रति और दूसरोंके प्रति जीवन-दृष्टि बदल जाती है। फिर तो ऐसा भाव पैदा होता है कि सर्वत्र त्रिअंशी जीवन-शक्ति (सच्चिदानन्द) या तो अखंड या एक है या सर्वत्र समान है। किसीको संस्कारानुसार अभेदानुभव हो या किसीको साम्यानुभव, पर परिणाममें कुछ भी फर्क नहीं होता। अभेद-दृष्टि धारण करनेवाला दूसरोंके प्रति वही जवाबदेही धारण करेगा जो अपने प्रति। वास्तवमें उसकी जवाबदेही या कर्तव्य-दृष्टि अपने परायेके भेदसे भिन्न नहीं होती, इसी तरह साम्य दृष्टि धारण करनेवाला भी अपने परायेके भेदसे कर्तव्य-दृष्टि या जवाबदेहीमें तारतम्य नहीं कर सकता।

मोहकी कोटिमें आनेवाले भावोंसे प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टि एक-सी अखण्ड या निरावरण नहीं होती जब कि जीवन शक्तिके यथार्थ अनुभवसे प्रेरित उत्तरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टि सदा एक-सी और निरावरण होती है क्यों कि वह भाव न तो राजस अंशसे आता है और न तामस अंशसे अभिभूत हो सकता है। वह भाव साहजिक है, सात्विक है।

मानवजातिको सबसे बड़ी और कीमती जो कुदरती देन मिली है वह है उस साहजिक भावको धारण करने या पैदा करनेका सामर्थ्य या योग्यता जो विकासका—असाधारण विकासका—मुख्य साधन है। मानव-जातिके इतिहासमें बुद्ध महावीर आदि अनेक सन्त महन्त हो गये हैं, जिन्होंने हजारों विघ्न-बाधाओंके होते हुए भी मानवताके उद्धारकी जवाबदेहीसे कभी मुँह न मोड़ा। अपने शिष्यके प्रलोभनपर सॉक्रेटीस मृत्युमुखमें जानेसे बच सकता था पर उसने शारीरिक जीवनकी अपेक्षा आध्यात्मिक सत्यके जीवनको पसन्द किया और मृत्यु उसे डरा न सकी। जीसिसने अपना नया प्रेम-सन्देश देनेकी जवाबदेहीको अदा करनेमें शूलीको सिंहासन माना। इस तरहके पुराने उदाहरणोंकी सचाईमें सन्देहको दूर करनेके लिए ही मानो गाँधीजीने अभी अभी जो चमत्कार दिखाया है वह सर्वविदित है। उनको हिन्दुत्व-आर्यत्वके नामपर प्रतिष्ठाप्राप्त ब्राह्मणों और श्रमणोंकी सैकड़ों कुरूढ़ि पिशाचियाँ चलित न कर सकीं। न तो हिंदू-मुसलमानोंकी दण्डादण्डी या शस्त्राशस्त्रीने उन्हें कर्तव्य-चलित किया और न उन्हें मृत्यु ही डरा सकी। वे ऐसे ही मनुष्य थे जैसे हम।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फिर क्या कारण है कि उनकी कर्तव्य-दृष्टि या जवाबदेही ऐसी स्थिर, व्यापक और शुद्ध थी, और हमारी इसके विपरीत। जवाब सीधा है कि ऐसे पुरुषोंमें उतरदायित्व या कर्तव्य-दृष्टिका प्रेरक भाव जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवमेंसे आता है, जो हममें नहीं है।

ऐसे पुरुषोंको जीवन-शक्तिका जो यथार्थ अनुभव हुआ है उसीको जुदे जुदे दार्शनिकोंने जुदी जुदी परिभाषामें वर्णन किया है। उसे कोई आत्म-साक्षात्कार कहता है, कोई ब्रह्म-साक्षात्कार और कोई ईश्वर-दर्शन, पर इससे वस्तुमें अन्तर नहीं पड़ता। हमने ऊपरके वर्णनमें यह बतलानेकी चेष्टा की है कि मोहजनित भावोंकी अपेक्षा जीवन-शक्तिके यथार्थ अनुभवका भाव कितना और क्यों श्रेष्ठ है और उससे प्रेरित कर्तव्य-दृष्टि या उत्तरदायित्व कितना श्रेष्ठ है। जो वसुधाको कुटुम्ब समझता है, वह उसी श्रेष्ठ भावके कारण। ऐसा भाव केवल शब्दोंसे आ नहीं सकता। वह भीतरसे उगता है, और वही मानवीय पूर्ण विकासका मुख्य साधन है। उसीके लाभके निमित्त अध्यात्म-शास्त्र है, योग मार्ग है, और उसीकी साधनामें मानव-जीवनकी कृतार्थता है।

[संपूर्णानन्द-अभिनन्दन ग्रन्थ-१९५०]

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org